

**रा**जस्थान में पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों की बहस ने शिक्षा और राजनीति के संबंधों को एक नया आयाम प्रदान कर दिया है। इसने दलीय राजनीति से परे सरकारों के चरित्र पर गंभीर प्रश्न खड़े कर दिए हैं। करीब तीन साल पहले राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों की आलोचना से यह सामने आया कि ये पाठ्यपुस्तकें संविधान विरोधी, खास दलीय विचारधारा में रची-बसी, अलगाववादी; दलित, महिलाओं और अल्पसंख्यकों के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त तथा बेहद खराब शिक्षणशास्त्र का नमूना हैं। इन्हें बदलने के लिए विरोध बेअसर रहे क्योंकि तत्कालीन सरकार के शासनकाल में ये पाठ्यपुस्तकें बनीं थीं और उससे बहुत ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी। नई सरकार की प्राथमिकता सूची में यह विषय शासन संभालने के करीब एक वर्ष बाद आया। लेकिन अभी पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तक निर्माण की जो प्रक्रियाएं और तौर-तरीके अपनाए जा रहे हैं उन्हें देखकर नहीं लगता है कि नई सरकार के लिए भी शिक्षा महत्त्व का मुद्दा है और वह लोकतांत्रिक और पारदर्शी तरीकों में यकीन करती है। इस पूरे दृश्य ने एक बार फिर इस सवाल को प्रासंगिक बना दिया है कि-एक लोकतांत्रिक राज्य में शिक्षा और राजनीति का संबंध क्या है ?

यह कोई नया सवाल नहीं है। राज्य के चरित्र तथा शिक्षा एवं राजनीति के संबंध पर बहुत कुछ कहा-सुना गया है। शायद ही कोई शिक्षा को एक राजनैतिक क्रियाकलाप मानने से इंकार करे। शिक्षाविदों का यहां तक मानना है कि 'कोई भी शैक्षिक निर्णय', जैसा कि ब्रिटिश दार्शनिक आर. एफ. डियर्डेन कहते हैं, 'राजनीति से परे नहीं होता।' निजी प्रयासों की बढ़ती पहल के बावजूद भी दुनिया के लगभग सभी देशों में शिक्षा मुख्यतः राज्य पर निर्भर गतिविधि है। इसका एकमात्र कारण शैक्षिक प्रावधानों, उनके लिए संसाधनों की उपलब्धता और क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह एक राजनैतिक सवाल है कि आधुनिक लोकतांत्रिक-बहुलतावादी समाजों में बच्चों को क्या और कैसे पढ़ाया जाना चाहिए। सही मायने में शिक्षा की राज्य पर इस निर्भरता का एक प्रमुख तर्क लोकतांत्रिक और न्यायपूर्ण समाज की तरफ बढ़ने की आकांक्षा का भी परिणाम है। शिक्षा में यह चर्चा का विषय रहा है कि लोकतांत्रिक, समतावादी और न्यायपूर्ण समाज की दिशा में आगे बढ़ने को परिवार के भरोसे और निजी प्रयासों के बलबूते बहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। इस दिशा में तभी आगे बढ़ा जा सकता है जब सभी के लिए शिक्षा की योजना निजी हितों से परे निर्मित हो और वास्तव में इस काम को राज्य ही अंजाम दे सकता है। इस आकांक्षा के केन्द्र में समतावादी एवं न्यायपूर्ण समाज का वह सपना है जिसे शिक्षा के जरिए साकार होना है। लेकिन इस सहज मान्य अपेक्षा को ठोस रूप देने में तब समस्या आती है जब शैक्षिक प्रक्रियाओं की दिशा तय करने में बहुत से सामाजिक समूहों के हित टकराने लगते हैं। प्रत्येक समाज का शक्तिशाली तबका शिक्षा प्रक्रियाओं को अपने हित के अनुरूप गढ़ने की कोशिश करता है और वस्तुतः इस तबके का अस्तित्व अलोकतांत्रिक और अन्यायपूर्ण तौर-तरीकों पर ही टिका होता है। अतः यह तबका समरस, समतापूर्ण और न्यायाधारित समाज की दिशा में बढ़ने का प्रतिरोध करता है।

लेकिन लोकतांत्रिक तरीके से चुनी गई संवैधानिक सरकारों के बारे में एक सहज सवाल उठता है कि पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों की बेहतरी में ऐसी क्या समस्या है अथवा वह अड़चन क्या है जिससे वे कतराती हैं ? जहां तक सरकार की मंशा की बात है, यह समझ में आता है कि किसी भी प्रक्रिया को लोकतांत्रिक और पारदर्शी बनाने का सबसे पहला संभावित खतरा सरकार ही महसूस करती है। लोकतांत्रिक और पारदर्शी प्रक्रियाओं को अपनाने का आशय बहस के दायरे को सभी के लिए खोलना और निर्णय प्रक्रिया में हिस्सेदारी के अवसरों को सभी के लिए खोलना है। ऐसा करने का मतलब लोगों में राजनैतिक चेतना और जागरूकता पैदा करना है और यदि लोगों में राजनैतिक चेतना तथा जागरूकता पैदा होगी तो इसका एक परिणाम सरकार के खिलाफ सवालों को आमंत्रित करना होगा। अतः कोई भी सरकार यह नहीं चाहेगी कि उसके क्षेत्र और कामकाज के तौर-तरीकों में किसी का दखल बढ़े। इस अर्थ में वह अभिभावकों में राजनैतिक चेतना और जागरूकता के अभाव का फायदा उठाने से भी नहीं चूकती। उन्हें इस हकीकत का भी फायदा मिलता है कि आज आम व्यक्ति का सरोकार पढ़ना-लिखना भले ही बन गया हो लेकिन पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकें अभी उसके सरोकार के दायरे में नहीं हैं। मीडिया इस बहस को ज्यादा लोकतांत्रिक

और पारदर्शी बनाने में पहल कर सकता है लेकिन वर्तमान स्थिति में वह खुद अभी इन समस्याओं से रूबरू नहीं है और शैक्षिक समस्याएं उसके एजेण्डा में अभी दोयम दर्जा भी हासिल नहीं कर पाई हैं।

इस समस्या का एक दूसरा पहलू भी है जिससे कि बहुत से शिक्षाविद् जुड़े हैं। शिक्षाविदों में एक वर्ग ऐसा है जो शिक्षा में पाठ्यपुस्तकों के स्थान को नगण्य अथवा महत्वहीन मानता है। पाठ्यपुस्तकों पर आयोजित चर्चाओं में उनका दावा होता है कि 'पाठ्यपुस्तकें कैसी भी हों, शिक्षा प्रक्रियाओं में इस बात से ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। फर्क इस बात का पड़ता है कि शिक्षक उन्हें काम में कैसे लेता है। कोई अच्छा शिक्षक खराब पाठ्यपुस्तकों को भी अच्छे तरीके से इस्तेमाल कर सकता है और कोई खराब शिक्षक अच्छी पाठ्यपुस्तकों को भी खराब तरीके से काम ले सकता है। अतः शिक्षक शिक्षा पर ध्यान देना ज्यादा जरूरी है।' साथ ही उनका कहना है कि 'टैक्सट तो हमारे आसपास बहुत है। दीवार पर लिखे इस्तेहार, दुकानों के नाम भी एक तरह के टैक्सट हैं। शिक्षण में इनका उपयोग क्यों नहीं किया जा सकता।' इस कथन की सच्चाई में किसी तरह की शंका की गुंजाइश नहीं है लेकिन उक्त दावे में कुछ अनकही बातें निहित हैं जिन्हें समझना उचित होगा। एक, यदि शिक्षक शिक्षा बेहतर हो तो खराब पाठ्यपुस्तकों से काम चल सकता है और इन्हें शिक्षक बेहतर रूप में काम ले सकते हैं। अर्थात् पाठ्यपुस्तकों का मुद्दा शैक्षिक विमर्श में महत्वहीन है और असली चीज शिक्षक की क्षमता है। दो, शिक्षक शिक्षा को तो बेहतर बनाया जा सकता है और यह काम बेहतर पाठ्यपुस्तकों के निर्माण से कहीं आसान है। तीन, शिक्षकों को उनके सामाजीकरण और अनुकूलन से मुक्त और विचारधारात्मक सवालों से परे ले जाया जा सकता है तथा प्रशिक्षणों से एकरूप विचारवान शिक्षकों की निर्मिति संभव है। चार, शिक्षक शिक्षा राजनीति के उस चक्र से बाहर है जिसमें कि अभी पाठ्यपुस्तकें फंसी हैं। पांच, लोकतंत्र में, जहां कि आम आदमी के संचित धन से शैक्षिक गतिविधियां चलती हैं, सरकार को खराब पाठ्यपुस्तकें बनाते रहने का 'अधिकार' है और इसके प्रति उसकी जबाबदेही सुनिश्चित करने की मांग जायज नहीं है।

पहली दृष्टि में ऐसा लगता है, हालांकि इसे मानना मुश्किल है कि, उपरोक्त दावे करने वाले जमीनी हकीकत से परिचित नहीं हैं। इन दावों से ऐसा प्रतीत होता है कि बेहतर पाठ्यपुस्तकों की मांग करने में अच्छे शिक्षक या बेहतर शिक्षक शिक्षा का विरोध निहित है। पाठ्यपुस्तकों का विरोध करने वाले भी बेहतर रूप में जानते हैं कि, स्कूल जाने वाले अधिकांश बच्चों को पाठ्यपुस्तकों से इतर किताबें नहीं मिलतीं। ऐसी स्थिति में, क्या अच्छी पाठ्यपुस्तकों की मांग से बच्चों को किसी तरह की हानि होने की संभावना है ? क्या अच्छी पाठ्यपुस्तकें अन्ततः ज्ञान प्राप्त करने के अन्य माध्यमों का निषेध करती हैं ? शिक्षा में काम करने वाले जानते हैं कि पाठ्यपुस्तकें ज्ञान का अन्तिम स्रोत और सत्ता नहीं हो सकतीं। इस पर सभी शिक्षाविदों की आम सहमति है कि पाठ्यपुस्तकों में ज्ञान को अन्तिम सत्य के रूप में नहीं परोसा जाना चाहिए। इसके बजाय उनमें बच्चों के लिए सोचने-समझने और स्वयं अपना ज्ञान निर्मित करने के अवसर होने चाहिए। साथ ही शैक्षिक प्रक्रियाओं में किताबी दुनिया के बजाय बाहरी दुनिया से ज्ञान सृजन के अवसर मिलने चाहिए। लेकिन पाठ्यपुस्तकों को महत्वहीन मान लेना अथवा सिरे से खारिज करना, पुस्तकों के माध्यम से ज्ञान सृजन के जरिए को भी खारिज करता है। वर्तमान स्थितियों में यह कहा जा सकता है कि अच्छी पाठ्यपुस्तकें बच्चे के लिए सामाजिक यथार्थ को समझने और समाज द्वारा प्रदत्त समझ से मुठभेड़ का जरिया बन सकती हैं। साथ ही बच्चे के स्वयं सीखने का माध्यम बन सकती हैं जिसे वर्तमान स्कूली अनुभव में सुनिश्चित करना मुश्किल होता जा रहा है। साथ ही पाठ्यपुस्तकें ज्ञान का एक ऐसा माध्यम भी हो सकती हैं जो शिक्षक की 'व्यक्तिपरक' सीमाओं को अतिक्रमित कर सकने की समर्थता रखती हों। अपने आसपास बिखरे टैक्सट का तर्क बहुत दूर तक नहीं जाता। इसकी गंभीर सीमाएं हैं। यदि इससे पूरी तरह सीखना संभव होता तो अभी तक रचित साहित्य को पढ़ने-समझने की आवश्यकता खत्म हो चुकी होती।

पाठ्यपुस्तकों के पक्ष में दिए गए तर्क का अर्थ यह नहीं है कि यदि पाठ्यपुस्तकें बेहतर हो जाएं तो शिक्षा की सभी समस्याएं दूर हो जाएंगी बल्कि तर्क यह है कि शैक्षिक प्रक्रियाओं में पाठ्यपुस्तकों का अपना स्थान है और उसे खारिज नहीं किया जा सकता। साथ ही यदि राज्य को बेहतर शिक्षा और शिक्षण सामग्री के विकास का दायित्व समाज ने सौंपा है तो उसे अपनी इस जिम्मेदारी के प्रति गंभीर और जबाबदेह होना चाहिए। पाठ्यपुस्तकें शिक्षा के लिए अन्तिम सामग्री नहीं हैं लेकिन अच्छी पाठ्यपुस्तकें आज के समाज में बच्चों की आन्तरिक जरूरत और लोकतांत्रिक अधिकार है। अतः लोकतांत्रिक सरकारों का दायित्व है कि वे समाज के प्रति जबाबदेह बनें। ♦

विमर्श